दंसण मूलो धम्मो

# आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष आठवाँ
अंक नववाँ

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

पौष
२४७९

## पूर्णता का पंथ

हे भाई! यदि तुझे धर्म करना हो, पूर्णता प्रगट करना हो, तो तू अपने आत्मस्वभाव को अपूर्ण या विकारी माने, यह नहीं चल सकता। यदि तू अपने आत्मा को अपूर्ण और विकारवाला ही मान लेगा तो तेरे आत्मा में से वह अपूर्णता और विकार दूर कैसे होंगे? और पूर्णता या शुद्धता आयेंगे कहाँ से? अपने आत्मा को अपूर्ण और विकारीरूप ही लक्ष में लेने से अपूर्णता और विकार दूर नहीं होते, परन्तु आत्मा के पूर्ण शुद्ध स्वभाव को श्रद्धा में लेकर उसका अवलम्बन करने से पूर्णता और शुद्धता प्रगट हो जाती है। इसप्रकार आत्मा के शुद्ध परिपूर्ण स्वभाव के लक्ष से ही पूर्णता के पंथ का प्रारम्भ होता है।

[—प्रवचन से]

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

९३

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ ( सौराष्ट्र )

# परमात्मा का प्रतिबिम्ब

भगवान की परम शांत वीतरागी प्रतिमा के सन्मुख सम्यक्त्वी एकावतारी इन्द्र-इन्द्राणी भी भक्ति से नाच उठते हैं। नंदीश्वर नाम के आठवें द्वीप में रत्न के शाश्वत जिनबिम्ब हैं; वहाँ कार्तिक, फाल्गुन और अषाढ़ मास में शुक्ला ८ से लेकर १५ तक देव, भक्ति करने जाते हैं। आत्मा में परमात्मपने की शक्ति सदैव है और वह शक्ति जिन में प्रगट हुई है—ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा भी जगत में सदैव एक के पश्चात् एक होते ही रहते हैं। इसलिये परमात्मदशा का प्राप्त हुए आत्मा अनादि से हैं, और उस परमात्मपने के प्रतिबिम्बरूप जिन-प्रतिमा भी अनादि से शाश्वत हैं। उनके पास जाकर इन्द्र-इन्द्राणी जैसे एकावतारी जीव भी भक्ति से थिरकते हुए नाचने लगते हैं।

—उस समय उन्हें अन्तर में भान है कि इस मूर्ति का अस्तित्व उसके अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में है, शरीर के ऊँचे-नीचे होने की क्रिया का अस्तित्व उसके अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में है; मूर्ति में या देह की क्रिया में मेरा अस्तित्व नहीं है, मेरा अस्तित्व मेरे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में है। ऐसे सम्यक्भान में, स्वाश्रय से अपना स्वकाल अंशतः तो निर्मल हुआ है और अल्पकाल में द्रव्य की परमात्म-शक्ति का पूर्ण आश्रय करने से पूर्ण निर्मल स्वकाल प्रगट हो जायेगा, इसलिये स्वयं परमानन्दमय परमात्मा हो जायेंगे।

[पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से]

# आत्मधर्म

पौष २४७९ ❀ वर्ष आठवाँ ❀ अंक नववाँ


# आत्मा कौन है
## और
# कैसे प्राप्त होता है ?

**श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन किया है**
**उस पर पूज्य श्री कानजी स्वामी के विशिष्ट अपूर्व प्रवचनों का सार**

लेखांक ६ ] [ अंक ९२ से आगे

### [ १२ ] नामनय से आत्मा का वर्णन

आत्मद्रव्य नामनय से, नामवाले पदार्थ की भाँति, शब्दब्रह्म को स्पर्श करनेवाला है। जिसप्रकार नामवाला पदार्थ उसके नामरूप शब्द से कहा जाता है; उसीप्रकार नामनय से आत्मा शब्दब्रह्म से कहा जाता है। जिसप्रकार 'मिश्री' नाम के द्वारा मिश्री पदार्थ कहा जाता है, उसीप्रकार 'आत्मा' नाम के द्वारा आत्मपदार्थ कहा जाता है। शब्द का आत्मा में अभाव है, परन्तु शब्दब्रह्म द्वारा कहा जा सके—वाच्य हो—ऐसा नामनय से आत्मा का स्वभाव है। आत्मा स्वयं शब्द बोल सकता है—ऐसा इसका अर्थ नहीं है परन्तु शब्द बोले जाते हैं, उनसे आत्मा वाच्य हो—ऐसा उसका स्वभाव है; उस अपेक्षा से आत्मा शब्दब्रह्म को स्पर्श करनेवाला है। शब्दब्रह्म स्वयं तो जड़ है, जीव स्वयं कहीं शब्दब्रह्म का कर्ता नहीं है। जीव स्वयं शब्दब्रह्म द्वारा अपने को बतलाता है—ऐसा नहीं समझना चाहिए। शब्दब्रह्म का कर्ता तो जड़ है, परन्तु वाणी के शब्द द्वारा आत्मा वाच्य होता है, इतना सम्बन्ध है, इसलिये आत्मा शब्दब्रह्म को स्पर्श करता है—ऐसा नामनय से कहा गया है। आत्मा को जानता तो ज्ञान है, कहीं वाणी में जानने का सामर्थ्य नहीं है। 'आत्मा'—ऐसा शब्द बोला

जाये, वहाँ आत्मा नामक पदार्थ, ज्ञान के लक्ष में आता है; इसलिये नामनय से आत्मा उस शब्द को स्पर्श करता है। 'आत्मा'—ऐसा शब्द बोलने की शक्ति कहीं आत्मा में नहीं है; शब्द बोलने की शक्ति तो भाषावर्गणा में है; उस वाणी से वाच्य हो, ऐसा धर्म आत्मा में अनादि-अनंत है। सिद्धभगवान के आत्मा में भी यह धर्म है। सिद्ध के वाणी नहीं है, परन्तु 'सिद्ध' 'भगवान' 'परमात्मा' ऐसे शब्द से वे कहे जाते हैं, इसलिये नामनय से सिद्ध का आत्मा भी शब्दब्रह्म को स्पर्श करनेवाला है।

'अरिहंत भगवान के वाणी है, इसलिये उनमें तो यह धर्म होता है, परन्तु सिद्ध भगवान के वाणी नहीं है, इसलिये उनमें यह धर्म नहीं होता'—ऐसा नहीं है। वास्तव में कोई आत्मा वाणीवाला है ही नहीं, परन्तु वाणी से वाच्य हो, ऐसे धर्मवाला है। आत्मा में वाणी का अभाव है, परन्तु वाणी से वाच्य हो, ऐसे धर्म का अभाव नहीं है। वह धर्म तो आत्मा का अपना ही है, कहीं वाणी के कारण वह धर्म नहीं है। 'आत्मा' शब्द है, इसलिये उसके कारण आत्मा का वाणी से वाच्य होने का धर्म है—ऐसा नहीं है। वाणी और आत्मा पृथक् है, आत्मा के वाणी नहीं है परन्तु आत्मा, वाणी से वाच्य होता है। यदि आत्मा शब्दब्रह्म को बिलकुल स्पर्श न करता हो अर्थात् शब्द से बिल्कुल वाच्य न होता हो तो सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि का उपदेश व्यर्थ जाये! आत्मा सर्वथा वाणी से अगोचर नहीं है; जो जीव, शब्द पर से आत्मा को समझ जाये, उसे कथंचित् वाणी गोचर कहा जाता है। चैतन्यभगवान आत्मा परमब्रह्म है और उसकी द्योतक वाणी शब्दब्रह्म है। उस शब्दब्रह्म को आत्मा स्पर्श करता है अर्थात् उस शब्दब्रह्म से आत्मा का वर्णन होता है।

'सिद्ध भगवन्त अशरीरी, चैतन्यमूर्ति परम सुखी हैं'—ऐसा कहने से सिद्ध का स्वरूप लक्ष में आता है; इसलिये सिद्ध में भी कथंचित् वचनगोचर होने का धर्म है। यदि सर्वथा वचनातीत हों तो 'सिद्ध भगवन्त अशरीरी चैतन्यमूर्ति, परम सुखी हैं'—इतना भी वचन में नहीं आ सकेगा। आत्मा सर्वथा वचनातीत नहीं है। आत्मा, शब्द को जानता है, उसके वाच्यरूप पदार्थ को भी जानता है, और उसका जो ज्ञान हुआ, उस ज्ञान को भी जानता है; इसप्रकार शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीनों को आत्मा जानता है।

वाणी द्वारा आत्मा के अनेक धर्मों का विवेचन करने में क्रम पड़ता है और समय लगता है, परन्तु ज्ञान में समझते हुए देर नहीं लगती। वस्तु में एकसाथ अनन्त धर्म हैं, उन सबको क्रम बिना एकसमय में जान लेने की ज्ञान की शक्ति है। शब्द का परिणमन होने में असंख्य समय लगते हैं,

शब्द में एकसमय में कहने की शक्ति नहीं है; 'आत्मा'—इतना कहने में असंख्य समय बीत जाते हैं। वस्तु में अनंत धर्म एकसाथ हैं और उन्हें एक समय में जानने की ज्ञान की शक्ति है। प्रत्येक आत्मा में ऐसी ज्ञानशक्ति भरी है; उस ज्ञानसामर्थ्य का विश्वास करके समझना चाहे तो सब समझ में आ सकता है। ज्ञानसामर्थ्य का अविश्वास करके 'मेरी समझ में नहीं आयेगा'—ऐसा मान ले तो उसके ज्ञान का पुरुषार्थ कहाँ से उछलेगा ?

जगत में वाणी है और वाणी द्वारा आत्मा का वर्णन हो सकता है;—ऐसे आत्मा के धर्म को जाने, उसका नाम 'नामनय' है। वहाँ ज्ञान के कारण वाणी नहीं है और वाणी के कारण ज्ञान नहीं है; और वाणी है, इसलिये आत्मा में उससे वाच्य होने का धर्म है—ऐसा नहीं है, तथा आत्मा का धर्म है, इसलिये वाणी है—ऐसा भी नहीं है; आत्मा सर्वथा अवक्तव्य नहीं है। 'आत्मा अवक्तव्य है'—ऐसा कहनेवाले ने भी आत्मा के अवक्तव्य धर्म का तो कथन किया या नहीं ?—इसलिये आत्मा वक्तव्य सिद्ध हो गया; तथापि आत्मा को सर्वथा अवक्तव्य कहे तो वह स्ववचनबाधित है। 'आत्मा का स्वभाव अवक्तव्य है'—ऐसा स्वयं कहता है, तथापि आत्मा को सर्वथा अवक्तव्य माने तो वह, 'मेरे मुँह में जीभ नहीं है'—ऐसा कहनेवाले की भाँति झूठा है। आत्मा का स्वभाव नामनय से वाणी से वक्तव्य है और वाणी में वह कहने का धर्म है। कोई भी शब्द हो, वह वाच्य के बिना नहीं होता। यदि पदार्थ में वाच्य होने का स्वभाव न हो तो वाणी बतलायेगी किसे ?—वाणी ने कहा क्या ? 'सत् प्ररूपणा' होती है; अर्थात् जो सत् हो, उसी का प्ररूपण कथन होता है। जो सर्वथा असत् हो, उसका वाचक भी नहीं होता। नाम है, उसका वाच्य भी है; नाम सर्वथा निरर्थक नहीं है। 'भगवान'—ऐसा शब्द, 'भगवान'—ऐसा पदार्थ और 'भगवान'—ऐसा ज्ञान, यह तीनों सत् हैं; 'भगवान' शब्द भगवान पदार्थ को बतलाता है और ज्ञान वैसा जानता है। इसप्रकार शब्दसमय, अर्थसमय और ज्ञानसमय—यह तीनों सत् हैं।

वस्तु अनंतधर्मात्मक है; उसे स्वीकार किये बिना ज्ञान प्रमाण नहीं होता और प्रमाण ज्ञान के बिना आत्मा की प्राप्ति नहीं होती।

शब्द से वाच्य हो, ऐसा आत्मा का धर्म है; यह धर्म स्वीकार करने के लिये कहीं शब्द के सामने नहीं देखना पड़ता, परन्तु आत्मा के सन्मुख देखकर इस धर्म की स्वीकृति होती है; क्योंकि धर्म तो आत्मा में विद्यमान है, कहीं शब्द में विद्यमान नहीं है। लक्ष्मीचंद और ज्ञानचंद नाम के दो मनुष्य बैठे हों, वहाँ 'लक्ष्मीचंद' कहने से लक्ष्मीचंद नाम का मनुष्य ही आता है, 'लक्ष्मीचंद' नाम

से पहिचाने जाने का धर्म लक्ष्मीचंद में है , परन्तु ज्ञानचंद में नहीं है और ज्ञानचंद शब्द से ज्ञानचंद पहिचाना जाता है, ऐसा उसका धर्म है। उसीप्रकार 'आत्मा' शब्द कहने से आत्मा चैतन्यमूर्ति वस्तु ध्यान में आती है, परन्तु कहीं 'आत्मा' शब्द कहने से लकड़ी का टुकड़ा ध्यान में नहीं आता।—इसप्रकार नामनय से आत्मद्रव्य शब्दब्रह्म को स्पर्श करनेवाला है।

✦✦✦

आत्मा में यदि नाम से वाच्य होने का धर्म न हो तो वाणी द्वारा उसका उपदेश नहीं दिया जा सकता। 'आत्मा, देह से भिन्न ज्ञानमूर्ति है; आत्मा पर का अकर्ता है'—इसप्रकार वाणी द्वारा उसका कथन हो सकता है, और उससे आत्मा वाच्य हो—ऐसा आत्मा का एक धर्म है। जड़ में आत्मा का धर्म नहीं है परन्तु जड़ शब्दों से वाच्य हो—ऐसा उसका धर्म है। वाणी जड़ है और आत्मा चेतन है, इसलिये वाणी से आत्मा किसीप्रकार वाच्य ही न हो—ऐसा नहीं है। यदि वाणी से आत्मा का स्वरूप नहीं कहा जा सकता हो तो संतों द्वारा की गई शास्त्ररचना निरर्थक सिद्ध हो, और अपने को जैसा आत्मा का अनुभव हुआ है, वैसा दूसरे को किसीप्रकार समझाया ही नहीं जा सकता। यद्यपि वाणी तो मात्र निमित्त है परन्तु आत्मा में वैसा धर्म है कि वाणी द्वारा आत्मा वाच्य हो।

देखो, यहाँ नामनय से आत्मा वाणी से वाच्य है—ऐसा कहा, और 'अपूर्व अवसर' में श्रीमद् कहते हैं कि:—

**'जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां,**
**कही शक्या नहि ते पण श्री भगवान जो...**
**तेह स्वरूपने अन्य वाणी तो शुं कहे?**
**अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो।'**

—वहाँ तो वाणी के लक्ष में ही रुका रहे तो आत्मा समझ में नहीं आता—ऐसा बतलाने के लिये कहा है। वाणी का अवलंबन छुड़ाकर आत्मा के स्वभाव का अनुभव करने के लिये वह कथन है। सर्वज्ञ की वाणी में भी आत्मा पूरा नहीं कहा जा सका; इसलिये तू वाणी का लक्ष छोड़कर आत्मा की ओर उन्मुख हो—ऐसा बतलाने के लिये वह कथन है।

यहाँ भी धर्म को जानकर आत्मा की ओर उन्मुख होने का ही तात्पर्य है। 'वाणी से वाच्य हो -ऐसा धर्म है'—ऐसा कहकर वाणी के सन्मुख देखने को नहीं कहा, परन्तु वाणी से वाच्य होनेरूप धर्म को अपने आत्मा में ढूँढ़, अपने आत्मा के सन्मुख होकर इस धर्म की प्रतीति कर। शब्द के सन्मुख देखने से इस धर्म की प्रतीति नहीं होती।

जो जीव कथन का आशय न समझे, वस्तुस्वरूप क्या है, उसे लक्ष में न ले और मात्र शब्दों की उलझन में पड़ जाये, उसे शास्त्र में 'शब्दम्लेच्छ' कहा है। चैतन्यब्रह्मा आत्मा को समझे तो निमित्तरूप वाणी को शब्दब्रह्म कहा जाता है। वाणी में चैतन्य का कथन करने की शक्ति है, इसलिये वह शब्दब्रह्म है,—परन्तु किसे ?—जो समझे उसे। जो वाणी का आशय न समझे, उसे तो वाणी निमित्तरूप से भी आत्मा को बतलानेवाली नहीं होती। जो आत्मा को समझे, उसके लिये शब्दब्रह्म निमित्त है, जो आत्मा को न समझे और शब्द में रुका रहे, वह तो 'शब्दम्लेच्छ' है। अपनी योग्यता न हो तो वाणी क्या करे ? स्वयं अन्तरस्वभावसन्मुख होकर समझे तो उसके लिये वाणी 'शब्दब्रह्म' कही जाती है, और जो स्वयं न समझे तथा वाणी के लक्ष में ही रुका रहे, उसे शब्दम्लेच्छ कहा जाता है। वाणी के लक्ष से पुण्यबंध होगा, परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप धर्म नहीं होगा।

देखो, यह नयों का कथन है। जो नय सापेक्ष हो अर्थात् अन्य अनंत धर्मों की अपेक्षासहित हो, वही नय सम्यक् है। दूसरे अनंत धर्मों का सर्वथा निषेध करके एक धर्म को माने तो वह मिथ्यानय है। नामनय से आत्मा, वाणी से वाच्य है—ऐसा कहने से मात्र वाणी को ही पकड़ ले तो उसने अनंत-धर्मवाले आत्मा को नहीं जाना है, और उसे एक धर्म का भी ज्ञान सच्चा नहीं है। नामनय का तात्पर्य वाणी का आश्रय करना नहीं है परन्तु अनंतधर्मवाले आत्मा की ओर उन्मुख होना ही उसका तात्पर्य है।

जैनशासन के अतिरिक्त अन्यमतों में आत्मा को सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक, सर्वथा शुद्ध या सर्वथा अशुद्ध मानते हैं; उनके नय नहीं कहा जा सकता। एक-एक नय अपेक्षा से भी वे सच्चे नहीं है, क्योंकि वे तो दूसरे पक्षों का बिलकुल निषेध करते हैं, इसलिये उन्होंने तो पूरी वस्तु को ही नहीं जाना है, इसलिये उनका एक अंश भी सच्चा नहीं है। जैनशासन तो अनंत धर्मात्मक सर्वांग-पूर्ण वस्तु के स्वीकारपूर्वक उसके एक-एक अंग को (धर्म को) जानता है; इसलिये वह सम्यक् नय है। अंश किसका है ? उस वस्तु के भान बिना अंश को अंशरूप से भी जाना नहीं कहलाता। मिथ्यादृष्टियों के एकान्त मत में तो सर्वांगी वस्तु को जाने बिना मात्र उसके एक-एक अंश को पकड़कर उतना ही वस्तुस्वरूप मान लिया है, इसलिये उनके अंश का ज्ञान भी सच्चा नहीं है और वस्तु का भी ज्ञान नहीं है।

हे भाई ! शब्द से वाच्य होनेरूप धर्म तो आत्मा का है और उस धर्म के साथ दूसरे अनंत धर्म भी आत्मा में विद्यमान हैं, इसलिये तू शब्द की ओर मत देख, एक धर्म के सन्मुख मत देख, परन्तु

अनंत धर्म के पिण्ड आत्मा की ओर देख। वाणी पर से लक्ष उठाकर अपने धर्म को अपने आत्मा में देख। वाणी की ओर न देखकर उसके वाच्य को देख। वाणी से वाच्य हो—ऐसा धर्म तुझ में ही है, तेरा धर्म कहीं वाणी में नहीं है।

शब्द है, इसलिये आत्मा वाच्य होता है—ऐसा नहीं है; और आत्मा में वाच्य होने का धर्म है; इसलिये वाणी उसे कहती है—ऐसा नहीं है; आत्मा के धर्म को और वाणी को कारण-कार्यपना नहीं है। वाच्य होनेरूप धर्म आत्मा का है, और वाचक होनेरूप धर्म वाणी का है। दोनों स्वतंत्र हैं।

नाम, स्थापना, द्रव्य ओर भाव—ऐसे जो चार नय हैं, वह तो ज्ञान हैं, उनके विषयभूत जो चार धर्म हैं, वह निक्षेप है, और शब्द तो जड़ हैं। नय, वह ज्ञान है; निक्षेप, वह वस्तु का धर्म है और वाणी जड़ है।—इस प्रकार ज्ञान, पदार्थ और वाणी ऐसे तीन प्रकार हुए।

नय, प्रमाणपूर्वक ही होते हैं। पूर्ण वस्तु के ज्ञानपूर्वक उसके एक अंश को जाने, उसे नय कहते हैं। परन्तु पूर्ण वस्तु के ज्ञान बिना उसके एक अंश को ही पूर्ण स्वरूप मान ले तो उसने अंश को भी अंशरूप से नहीं जाना, इसलिये उसका अंश का ज्ञान भी मिथ्या है। जैसे, कोई मनुष्य पाई को ही पूरा रुपया मान ले तो उसका पाई का ज्ञान भी मिथ्या है।

**प्रश्नः**—पाई रुपये का १९२ वाँ भाग है, इसलिये उतने अंश में तो वह सच्चा है न?

**उत्तरः**—नहीं; उसने तो पाई को ही रुपया माना है, इसलिये उसका अंश भी सच्चा नहीं है। पाई, रुपया नहीं है परन्तु रुपये का एक अंश है—ऐसा जाने तो उसका अंश सच्चा कहलाता है। उसीप्रकार कोई जीव वस्तु को एकान्त नित्य माने तो उसका नित्य-अंश भी सच्चा नहीं है; क्योंकि उसने तो नित्य अंश को ही वस्तु मान लिया, इसलिये उसके अंश, अंशरूप नहीं रहा और वस्तु भी न रही; वस्तु अनंत धर्मवाली है और नित्यपना भी उसका एक धर्म है—ऐसा जाने तभी नित्य अंश सच्चा कहलाता है, और उसी के नय होते हैं।

**प्रश्नः**—नयज्ञान स्व-परप्रकाशक है या नहीं?

**उत्तरः**—हाँ; नयज्ञान भी स्व-परप्रकाशक है, क्योंकि नय, प्रमाण का अंश है; इसलिये, जिसप्रकार प्रमाण स्व-परप्रकाशक है, उसीप्रकार नय भी स्व-परप्रकाशक है।

**प्रश्न :**—नय स्व-परप्रकाशक किसप्रकार है?

**उत्तरः**—नय आत्मा के धर्म को भी जानता है और स्वयं अपने को (नय को) भी जानता है। नय अपने विषयरूप धर्म को जानता है और 'मुझे इस धर्म का ज्ञान हुआ'—इसप्रकार ज्ञान को

–अपने को भी जानता है; इसलिये नय स्व–परप्रकाशक है। यहाँ नयज्ञान स्वयं स्व और उसमें जो धर्म ज्ञात होता है, वह पर—इसप्रकार स्व–पर का अर्थ है। इसप्रकार नयज्ञान भी स्व–परप्रकाशक सामर्थ्यवाला है। वाणी में स्व या पर को जानने का सामर्थ्य नहीं है। वाणी द्वारा कहे जानेवाले धर्म को ढूँढ़ना कहाँ ?—आत्मा में; इसलिये प्रत्येक नय का उपयोग स्वोन्मुख होता है।

यह नय उलझन खड़ी करनेवाले रस्से नहीं हैं, परन्तु वस्तु के धर्मों का ज्ञान कराके वस्तुस्वरूप स्पष्ट करनेवाले हैं। नयों की विवक्षा समझने में ज्ञान की सूक्ष्मता और विशालता है। जो न समझे, उसे उलझन और क्लिष्टता मालूम होती है। इसे समझने में प्रमाद न लाकर रुचिपूर्वक समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

जिसप्रकार एक पूरे थान में से बीच का एक डोरा निकाल दिया जाये तो वह थान पूरा नहीं रहा, किन्तु उसके टुकड़े हो गये। उसीप्रकार आत्मा अनंत धर्म का पिण्ड है, उसके अनंतधर्मों में से यदि एक भी धर्म को निकाल दें (–न मानें) तो आत्मद्रव्य पूर्ण नहीं रहा किन्तु खण्डित हो गया, अर्थात् उसकी श्रद्धा में पूर्ण आत्मा नहीं आया; इसलिये उसकी श्रद्धा ही मिथ्या हुई।

छद्मस्थ के ज्ञान में अनंत धर्म भिन्न–भिन्न ज्ञात नहीं होते; साधक जीव अपने ज्ञान की शक्ति अनुसार प्रयोजनभूत धर्मों को तो पहिचानता है और शेष अनंत धर्म सर्वज्ञ भगवान के कथनानुसार हैं–ऐसी प्रतीति करता है। यदि अनंत धर्मों की प्रतीति भी न करे और प्रयोजनभूत धर्मों को बिल्कुल न जाने तो श्रद्धा–ज्ञान सच्चे नहीं हो सकते।

यहाँ आचार्यदेव ने प्रथम तो आत्मा को अनंत धर्मवाला बतलाया है और पश्चात् उसके ४७ धर्मों का ४७ नयों से वर्णन किया है। उसमें बारह धर्मों का विवेचन पूरा हुआ। अब तेरहवाँ धर्म कहा जायेगा।●●●

## मिथ्यादृष्टि अनंतसंसारी जीवराशि की विपरीत श्रद्धा

राग–द्वेष–मोह अशुद्धपरिणतिरूप जीवद्रव्य परिणमित होता है उस सम्बन्ध में : परद्रव्य अर्थात् कर्म–शरीरादि नोकर्म तथा बाह्य सामग्रीरूप पुद्गलद्रव्य के निमित्त से जीव रागादि अशुद्ध परिणमित होता है—ऐसी श्रद्धा जो जीवराशि करता है, वह मिथ्यादृष्टि है, अनंत संसारी है।

*[ —समयसार प्रवचन से ]*

# गुणस्थानवृद्धि अर्थात् धर्मवृद्धि की रीति

## [ अभेद आत्मस्वभाव के आश्रय से ही धर्म की अखंड धारा ]

अभेद आत्मस्वभाव के आश्रय से ही वीतरागी धर्म प्रगट होता है, उसी के आश्रय से धर्म की वृद्धि होती है और उसी के आश्रय से पूर्णता होती है। इसके अतिरिक्त शरीरादि की किसी भी क्रिया से या व्रतादि के शुभपरिणाम से धर्म का प्रारम्भ नहीं होता, धर्म की वृद्धि भी नहीं होती और न पूर्णता ही होती है। धर्म के प्रारम्भ से लेकर पूर्णता तक अपने शुद्ध आत्मद्रव्य के अतिरिक्त अन्य किसी का अवलम्बन नहीं है। बीच में साधकदशा में पर के अवलम्बन का भाव आ जाये, परन्तु वह धर्म नहीं है—ऐसा धर्मी समझता है।

जबतक निमित्त पर, राग पर या भेद पर दृष्टि रहती है, तबतक आत्मा का सम्यक्दर्शन नहीं होता। जब निमित्त, राग और भेद—इन तीनों की उपेक्षा करके अभेद आत्मस्वभाव के सन्मुख हो, तभी निर्विकल्प सम्यग्दर्शनादि प्रगट होते हैं। भेद पर दृष्टि रखने से निर्विकल्पदशा नहीं होती, किन्तु राग होता है; इसलिये जब तक रागादिक दूर न हों, तबतक भेद को गौण करके अभेद आत्मस्वरूप का निर्विकल्प अनुभव कराया गया है। अभेद की मुख्यता और भेद की गौणता करके स्वभावोन्मुख होने से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है। गुणस्थान की वृद्धि अभेदस्वभाव के आश्रय से ही होती है। यदि दृष्टि में से एक क्षण भी अभेद-स्वभाव का आश्रय छूट जाये तो धर्मदशा स्थिर नहीं रहती।

प्रथम, चौथा गुणस्थान अभेद निर्विकल्प अनुभव से प्रगट होता है। तत्पश्चात् चौथा बदलकर पाँचवाँ गुणस्थान भी अभेदस्वभाव के ही विशेष अनुभव से प्रगट होता है। किन्हीं व्रतादि के शुभपरिणामों से पंचम गुणस्थान प्रगट नहीं होता परन्तु अभेदस्वभाव के निर्विकल्प अनुभव से ही चौथा बदलकर पाँचवाँ गुणस्थान प्रगट हो जाता है। पश्चात् आगे बढ़ने पर सातवाँ, आठवाँ, नववाँ, दसवाँ, बारहवाँ आदि गुणस्थान भी ऐसे ही अभेद अनुभव से प्रगट होते हैं। इसप्रकार अभेदस्वभाव के आश्रय से ही धर्म की धारा चली जा रही है। धर्म के छोटे से छोटे अंश से लेकर पूर्णता तक के जितने प्रकार पड़ें; उन सब में एक अभेद स्वभाव का ही अवलम्बन धर्म में है।

सर्व प्रथम आत्मस्वभाव की जैसी अचिंत्य महिमा है, वैसी पहिचानकर, उस स्वभाव के ही आश्रय से निर्विकल्प अनुभव से सम्यग्दर्शनरूप चौथा गुणस्थान प्रगट होता है; वहाँ से धर्म का

अपूर्व प्रारम्भ होता है; अर्थात् साधकभाव प्रारम्भ होता है। तत्पश्चात् आगे-आगे की साधकदशा भी अभेदस्वभाव के ही निर्विकल्प अनुभव से प्रगट होती है। चौथे गुणस्थान में व्रतादि के महान शुभपरिणाम करे, उससे पाँचवाँ गुणस्थान प्रगट हो जाता है—ऐसा नहीं है; परन्तु आत्मा के अभेदस्वभाव का उग्र अवलम्बन लेने से ही गुणस्थान की वृद्धि होती है। गुणस्थान की वृद्धि कहो, धर्म की वृद्धि कहो; साधकभाव की वृद्धि कहो अथवा मोक्षमार्ग कहो—उसकी रीति एक ही है कि अखण्ड आत्मस्वभाव का अवलम्बन करना। इसलिये श्रीगुरुओं ने प्रारम्भ से लेकर जहाँ तक रागादिक मिटकर केवलज्ञान हो, वहाँ तक उस अभेदस्वभाव को मुख्य करके उसी के निर्विकल्प अनुभव का उपदेश दिया है। *[ श्री समयसार गाथा ७ के भावार्थ के प्रवचन से ]*

## अर्धश्लोक में मुक्ति का उपदेश

**चिद्रूपः केवलः शुद्ध आनंदात्मेत्यहं स्मरे।**
**मुक्त्यै सर्वज्ञोपदेशः श्लोकार्द्धेन निरूपितः॥२२॥**

'मैं चिद्रूप, केवल, शुद्ध आनंदस्वरूप हूँ'—ऐसा स्मरण करता हूँ; सर्वज्ञ का यह मुक्ति का उपदेश इस अर्धश्लोक से निरूपित है। *—तत्त्वज्ञान तरंगिणी*

श्री समयसार की छट्ठी-सातवीं गाथा में आ जाने वाले—

## व्यवहारनय के चार प्रकार

और

# निश्चय के आश्रय से उनका निषेध

[इस विषय का पहला लेख अंक ९० में दिया जा चुका है]

श्री समयसार की छठवीं गाथा में आत्मा को 'ज्ञायक' कहकर (१) उपचरित असद्भूत, (२) अनुपचरित असद्भूत और (३) उपचरित सद्भूत—इस तीन प्रकार के व्यवहार का निषेध किया। अन्त में गुण-गुणीभेदरूप अनुपचरितसद्भूत व्यवहार शेष रहा, उसका निषेध सातवीं गाथा में किया। इसप्रकार छठवीं-सातवीं गाथा में 'शुद्ध ज्ञायकभाव' बतलाकर उसके आश्रय से चारों प्रकार के व्यवहार का निषेध किया। यह 'ज्ञायकभाव' निश्चय है और उसका आश्रय करना, वह मोक्षमार्ग है।

भगवान श्री आचार्यदेव अखण्ड ज्ञायकस्वरूप का आश्रय करके अप्रमत्त और प्रमत्तभावरूप मुनिदशा में वर्त रहे हैं। क्षण में विकल्प उठता है और क्षण में वह विकल्प तोड़कर अनुभव में लीन हो जाते हैं; उस समय तो 'प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं हूँ किन्तु ज्ञायक हूँ'—ऐसा विकल्प भी नहीं है, वहाँ तो ज्ञायक का अनुभव ही वर्तता है। ऐसी दशा में झूलते-झूलते इस समयसार की अद्भुत रचना हो गई है। इसमें अपूर्व गंभीर भाव भरे हैं। 'समयसार' अर्थात् शुद्धआत्मा; उसके वर्णन का प्रारम्भ करते हुए छठवीं गाथा में ही—'जो ज्ञायकभाव है, वह प्रमत्त या अप्रमत्त नहीं है'—ऐसा कहकर उस एक गाथा में ही आचार्यदेव ने चार नयों का वर्णन समा दिया है। वह इसप्रकार है:—

(१) 'मैं प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं हूँ'—ऐसा जो विकल्प उठता है, उसे जानते हुए 'यह विकल्प आत्मा का का है'—ऐसा लक्ष में लेना, वह उपचरित असद्भूत व्यवहार है। यहाँ आचार्यदेव ने 'प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है'—ऐसा कहकर उस व्यवहार का ज्ञान तो गर्भितरूप से करा दिया, और 'ज्ञायकभाव' बतलाकर उसका निषेध भी किया।

(२) जहाँ छद्मस्थ को ज्ञात हो, वैसा राग है, वहाँ छद्मस्थ को ज्ञात न हो, वैसा राग भी होता ही है; क्योंकि जहाँ बुद्धिपूर्वक का राग हो, वहाँ ज्ञान इतना सूक्ष्म नहीं होता कि सूक्ष्म से सूक्ष्म राग को भी पकड़ सके। जो ज्ञान, राग में युक्त है, उस ज्ञान का उपयोग स्थूल है। यदि अबुद्धिपूर्वक के

राग को भी पकड़ सके, ऐसा सूक्ष्म उपयोग हो, तब तो केवलज्ञान हो और वहाँ राग का बिलकुल अभाव हो। यहाँ तो साधक की बात है। साधक को तो अबुद्धिपूर्वक का विकल्प है, वह अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय का विषय है। 'ज्ञायकभाव अप्रमत्त भी नहीं है'—ऐसा कहकर गर्भितरूप से उस व्यवहार का ज्ञान कराके उसका निषेध किया।

(३) ज्ञान, पर को जानता है—ऐसा कहना, वह उपचिरतसद्भूत व्यवहार है; 'ज्ञायक तो ज्ञायक ही है'—ऐसा कहकर उस व्यवहार का भी निषेध किया है। व्यवहार का निषेध करने में 'वह व्यवहार है'—ऐसा उसका ज्ञान तो आ जाता है, क्योंकि साधक की अपनी पर्याय में जो व्यवहार है, उसका निषेध करता है न! यदि व्यवहार बिलकुल न हो तो उसका निषेध करना भी नहीं रहता।

(४) आत्मा को 'शुद्ध ज्ञायकभाव' कहकर शुद्धनय की स्थापना की है।

इसप्रकार एक ही गाथा में तीन प्रकार के व्यवहार और एक निश्चय—ऐसे चार प्रकार समा दिये हैं; और शुद्धनय का अभेद विषय बतलाकर तीनों प्रकार के व्यवहार का निषेध किया है। यद्यपि यहाँ छठवीं गाथा में आत्मा को शुद्ध ज्ञायक कहा, उसमें गर्भितरूप से गुण-गुणीभेदरूप व्यवहार का निषेध भी आ जाता है; तथापि सातवीं गाथा में उसका स्पष्टरूप से निषेध किया है। इसप्रकार समयसार में सर्व प्रकार के व्यवहार का निषेध करके अभेद ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि कराने का श्री आचार्यदेव का आशय है।

गुणभेद द्वारा आत्मा को लक्ष में लेते हुए भी अशुद्धता का वेदन होता है; गुणभेद के लक्ष से शुद्ध आत्मा अनुभव में नहीं आता। छठवीं गाथा में सुनकर शिष्य इतना तो तैयार हो गया है कि गुणभेद का विकल्प भी अशुद्धता है और शुद्धात्मा का अनुभव उस विकल्प से भी पार है—ऐसा उसने ग्रहण कर लिया है; इसलिये पूछता है कि प्रभो— दर्शन-ज्ञान-चारित्र से भी आत्मा को अशुद्धपना आता है तो यह तीन भेद क्यों कहे गये हैं? उसके उत्तर में आचार्यदेव गुणभेद का भी निषेध करके अभेद ज्ञायकस्वरूप बतलाते हैं, वही सम्यग्दर्शन का विषय है। छठवीं और सातवीं—इन दो गाथाओं में तो समयसार के मूल हैं।

गुण-गुणीभेद, वह व्यवहार का ऊँचा अर्थात् अन्तिम प्रकाश है। जहाँ उसका निषेध किया, वहाँ उसके नीचे के व्यवहारों का तो निषेध आ ही गया। 'ज्ञान, वह आत्मा'—इतना भेदरूप व्यवहार भी जहाँ नहीं चल सकता, वहाँ 'राग, वह आत्मा'—ऐसा व्यवहार तो कैसे

चलेगा ? 'चारों प्रकार के व्यवहार का निषेध करके ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि कर !'—ऐसा उपदेश में कहा जाता है, परन्तु वास्तव में तो ज्ञायकस्वरूप की दृष्टि करने से उस चारों प्रकार के व्यवहार का निषेध हो जाता है,—निश्चयस्वभाव का आश्रय लेते ही व्यवहार का आश्रय छूट जाता है।

यह विषय खास समझने जैसा है।

✦✦✦

छह गाथा तक कहीं भी 'व्यवहार' शब्द नहीं आया था; सर्व प्रथम इस सातवीं गाथा में 'व्यवहार' शब्द कहा है; इस गाथा में गुण-गुणी भेदरूप सूक्ष्म व्यवहार की बात है। जहाँ गुण-गुणी भेद को भी व्यवहार कहकर उसका निषेध किया, वहाँ दूसरे नय तो व्यवहार है ही—यह बात आ जाती है।

दो गाथाओं में निम्नोक्त पाँच नयों की बात आयी है:—

(१) उपचरित असद्भूत व्यवहार।

(२) अनुपचरित असद्भूत व्यवहार।

(३) उपचरित सद्भूत व्यवहार।

(४) अनुपचरित सद्भूत व्यवहार।

(५) शुद्ध निश्चय।

अब, इन पाँचों प्रकारों में पहला-पहला प्रकार दूसरे-दूसरे प्रकार का साधक है, इसलिये व्यवहार द्वारा भी परमार्थ बतलाने का ही अभिप्राय है—वह बात करते हैं।

राग-द्वेष वह अपना परिणमन है, इसलिये उसे आत्मा जानना, वहाँ से नय का प्रारम्भ किया है परन्तु परवस्तु के साथ आत्मा की एकता जाने, उसे तो आत्मा का व्यवहार भी नहीं गिना है। पर से तो आत्मा भिन्न ही है। राग को आत्मा कहनेवाला जो असद्भूत व्यवहारनय है। वह पर से आत्मा की भिन्नता बतलाता है। और 'राग असद्भूत है'—ऐसा बतलाकर उसका निषेध करना बतलाते हैं।

(१-२) आत्मा ज्ञायक है, उसके स्वरूप में विकार नहीं है, परन्तु उसकी पर्याय में विकार होने की योग्यता है। उसमें जो बुद्धिपूर्वक विकार हो, उस विकार को आत्मा का जानना, सो उपचरित असद्भूत व्यवहारनय हैं। विकार औपाधिकभाव है, वह आत्मा का शुद्धस्वरूप नहीं है इसलिये 'असद्भूत' है—ऐसा समझने से उपाधिरहित शुद्धस्वरूप का ज्ञान होता है।

और, जो बुद्धिपूर्वक विकल्प होता है, वह ऐसा बतलाता है कि वहाँ अबुद्धिपूर्वक के विकल्प भी हैं; क्योंकि जहाँ बुद्धिपूर्वक राग है, वहाँ ज्ञान पूरा कार्य नहीं करता, इसलिये वहाँ ज्ञान में न आ सके, इतना सूक्ष्म राग है। यदि ज्ञान पूरा कार्य करे (सूक्ष्म राग को भी जाने वैसा हो जाये) तो केवलज्ञान हो जाये और विकार बिलकुल न हो। इसलिये 'विकार है'—ऐसा जो उपचरित असद्भूत व्यवहारनय जानता है, वह ऐसा सिद्ध करता है कि दूसरा, ख्याल में न आये ऐसा, विकार भी है; और जिसप्रकार यह बुद्धिपूर्वक का विकार असद्भूत है, उसीप्रकार वह अबुद्धिपूर्वक का विकार असद्भूत है। इसप्रकार पहला नय दूसरे नय का साधक है।

(२-३) अबुद्धिपूर्वक के राग को अनुपचरित असद्भूत व्यवहार कहा, वह ऐसा सिद्ध करता है कि उस राग से भी ज्ञान भिन्न है। राग को ज्ञान जाने, वहाँ भी ज्ञान तो ज्ञान ही है, ज्ञान में राग की उपाधि नहीं है। 'यह राग है'—ऐसा अबुद्धिपूर्वक का राग पृथक्रूप से ख्याल में नहीं आता; इसलिये वह 'अनुपचरित' है, परन्तु वह अबुद्धिपूर्वक का राग भी असद्भूत है; इसलिये उस राग से भी ज्ञान पृथक् है—ऐसा यह नय सिद्ध करता है; इसप्रकार दूसरा नय तीसरे नय का साधक है। यद्यपि समस्त नयों का परमार्थ तात्पर्य तो शुद्ध स्वभाव की दृष्टि करना ही है, परन्तु नयों का परस्पर सम्बन्ध बतलाने के लिये पहले नय को दूसरे नय का साधक कहा है।

जो साधक जीव शुद्धात्मा की साधना कर रहा है, उसके ज्ञान में 'नय' होते हैं। यदि केवलज्ञान हो गया हो, तब तो एकसाथ लोकालोक को प्रत्यक्ष ज्ञेय करे और उस ज्ञान में नय न हों। साधक के ज्ञान का परिणमन अभी अल्प है और राग भी होता है। उस राग को ज्ञान जानता है, परन्तु अभी ज्ञान का उपयोग बिल्कुल सूक्ष्म नहीं हुआ है; इसलिये वह अव्यक्त राग को अलग नहीं पकड़ सकता; व्यक्त राग को पकड़ सकता है। व्यक्त राग, अव्यक्त राग को सिद्ध करता है और अव्यक्त राग को भी 'असद्भूत' कहने से वह औपाधिकभाव है, ज्ञान का मूलस्वरूप नहीं है—ऐसा सिद्ध होता है।

(३-४) राग को जाननेवाला ज्ञान, राग की उपाधिवाला नहीं है; ज्ञान तो ज्ञान ही है। ज्ञानपर्याय अपनी है, वह ज्ञान, राग को जानता है—ऐसा कहना, वह उपचरित सद्भूतव्यवहार है। ज्ञानपर्याय है, वह ज्ञेय के कारण नहीं है परन्तु ज्ञान-सामान्य के कारण ही है, अर्थात् ज्ञान, पर का नहीं किन्तु ज्ञान तो आत्मा का ही है। 'ज्ञान, पर को जानता है', उसे उपचार कहकर ऐसा बतलाया है कि वास्तव में ज्ञान का सम्बन्ध पर के साथ नहीं है परन्तु ज्ञान तो ज्ञान ही है, इसलिये ज्ञान-

परिणति का सम्बन्ध त्रिकाली गुण के साथ है। इसप्रकार उपचरित सद्भूतव्यवहार, अनुपचरित सद्भूतव्यवहार को सिद्ध करता है।

'ज्ञान, पर का नहीं है, ज्ञान तो आत्मा का है'—ऐसा कहने में भी अभी गुण-गुणी भेद का व्यवहार है; यह अन्तिम व्यवहार है। राग को जाननेवाला ज्ञान, राग का नहीं है किन्तु वह सामान्यज्ञान की पर्याय है, इसलिये ज्ञान की वह पर्याय सामान्य ज्ञानस्वभाव को सिद्ध करती है। पर्याय, त्रिकाली गुण को सिद्ध करती है और गुण में विकार नहीं है; इसलिये विकार से जीव का भिन्नत्व सिद्ध होता है।—इसप्रकार शुद्ध आत्मा दृष्टि में आये, यही इन अध्यात्मनयों का तात्पर्य है।

विकार और विकाररहित स्वभाव—इन दोनों को न जाने तो स्वभावोन्मुख होकर विकार का अभाव कहाँ से करेगा? मैं आत्मा ज्ञायक हूँ—ऐसा लक्ष करके, पर्याय में जो विकार होता है, उसे भी जानो! विकार मुझमें होता है और मेरे स्वभाव में वह असद्भूत है—ऐसा जाने तभी उसका निषेध हो सकता है।

(४-५) यहाँ अब गुण-गुणीभेदरूप सूक्ष्म व्यवहार की बात आयी है। 'आत्मा ज्ञानस्वरूप है' इतना भेद का विकल्प भी स्वानुभव को रोकनेवाला है। ज्ञान और आत्मा—ऐसी दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं, तथापि भेद करके कथन करना, वह व्यवहार है और ज्ञान, आत्मा का त्रिकाली स्वरूप है; इसलिये वह व्यवहार अनुपचरित सद्भूत है। 'ज्ञान, वह आत्मा'—ऐसा कहनेवाला यह अनुपचरित सद्भूतव्यवहार भी 'ज्ञायक आत्मा' को ही सिद्ध करता है। इस नय में गुण-गुणी भेद होने पर भी वह ज्ञान को अभेद आत्मा की ओर ले जाता है; इसप्रकार चौथा प्रकार, पाँचवें प्रकार का साधक है। ज्ञायक आत्मा को दृष्टि में लेना ही समस्त नयों का तात्पर्य है। जब व्यवहार के भेदों का लक्ष छोड़कर अभेद आत्मा को लक्ष में लिया, तब व्यवहार द्वारा भी परमार्थ की ही साधना की—ऐसा कहा जाता है। परन्तु यदि भेदरूप व्यवहार का ही आश्रय करके रुक जाये तो कहीं व्यवहार को परमार्थ का साधक नहीं कहा जाता; परमार्थदृष्टि से रहित भेद, वह वास्तव में व्यवहार ही नहीं है। अभेद पर दृष्टि हो, तभी भेद को व्यवहार कहा जाता है। अभेद के बिना भेद किसका? निश्चय के बिना व्यवहार किसका? *[ —अपूर्ण ]*

## शुद्धात्मा के निर्विकल्प अनुभव के लिये

# लालायित शिष्य

श्री समयसार की पहली ही गाथा में आचार्यदेव ने आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना की है कि मैं सिद्ध और तुम भी सिद्ध। सिद्ध भगवान के आत्मा में और इस आत्मा में स्वभाव से कोई अंतर नहीं है। इस बात का अत्यन्त रुचिपूर्वक स्वीकार करके शिष्य को अपना शुद्धात्मा समझने की लालसा हुई है; इसलिये उस शुद्धात्मा का स्वरूप जानने की जिज्ञासा से उसने प्रश्न किया है कि हे नाथ! ऐसा शुद्ध आत्मा कौन है कि जिसका स्वरूप समझना चाहिए? हे प्रभो! जिस शुद्धात्मा को जाने बिना मैंने अभी तक परिभ्रमण किया, उसका स्वरूप क्या है? वह कृपा करके मुझे समझाइए!

ऐसे शिष्य को शुद्ध आत्मा का स्वरूप समझाने के लिये आचार्यदेव ने छठवीं गाथा में 'ज्ञायकभाव' का वर्णन किया है; वहाँ विकार का और पर्यायभेद का तो निषेध किया; परन्तु अभी गुणभेदरूप व्यवहार के निशेध की बात वहाँ नहीं आई थी; इसलिये सातवीं गाथा के प्रारम्भ में श्री आचार्यदेव ने शिष्य के मुँह से प्रश्न कराया है कि प्रभो! दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद से भी इस आत्मा को अशुद्धपना आता है, अर्थात् 'आत्मा ज्ञान है-दर्शन है-चारित्र है'—ऐसा लक्ष में लेते हुए भी भगवान शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं होता; मात्र विकल्प की उत्पत्ति होकर अशुद्धता का अनुभव होता है, तो उसका क्या किया जाये?

देखो, शिष्य के प्रश्न की सूक्ष्मता! किसी बाह्य बात को याद नहीं करता, शरीर की क्रिया अथवा पुण्य-पाप की बात भी नहीं पूछता; अंतर में गुण-गुणी भेद का विकल्प उठता है, वह भी उसे खटकता है, इसलिये उससे आगे बढ़कर शुद्ध-आत्मा का निर्विकल्प अनुभव करने के लिये उसे यह प्रश्न उठता है। छठवीं गाथा में श्रीगुरु के पास से महान विनय और पात्रतापूर्वक ज्ञायकस्वरूप का श्रवण करके वैसा अनुभव करने के लिये अंतरमंथन करते-करते 'मैं ज्ञायक हूँ'—ऐसा लक्ष में लेने लगा; परन्तु उसमें गुण-गुणी भेद का विकल्प उठा; वहाँ अपनी शुद्धात्मरुचि के बल से शिष्य ने इतना तो निश्चित कर लिया कि अभी यह गुण-गुणी भेद का विकल्प उठता है, वह भी शुद्धात्मा के अनुभव को रोकनेवाला है; यह जो विकल्प है, सो अशुद्धता है; इसलिये यह भी निषेध करने योग्य है। शिष्य को रुचि और ज्ञान में इतनी सूक्ष्मता तो हो गई है कि गुण-गुणी भेद के विकल्प से भी शुद्ध आत्मा का अनुभव पार है—ऐसा निश्चित करके वह

गुण-गुणी भेद के विकल्प से भी पृथक् होना चाहता है; गुण-गुणी भेद के विकल्प से भी आगे कोई अभेदवस्तु है, उसे लक्ष में लेकर उसका अनुभव करने के लिये अंतर में गहराई तक उतरता जा रहा है; और वह श्रीगुरु के मुख से सुनने के लिये विनयपूर्वक प्रश्न करता है कि प्रभो! ज्ञान-दर्शन-चारित्र के भेद से आत्मा को लक्ष में लेते हुए गुण-गुणी भेद का विकल्प उठता है और अशुद्धता का अनुभव होता है, तो क्या किया जाय?

श्री आचार्य भगवान भी शिष्य की अत्यंत निकट पात्रता देखकर उसे शुद्ध आत्मा का स्वरूप समझाते हैं। शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते हुए सातवीं गाथा में कहते हैं कि इस भगवान ज्ञायक एक आत्मा में दर्शन-ज्ञान-चारित्र—ऐसे गुणभेद, व्यवहार से ही कहे गये हैं; परमार्थ से तो भगवान आत्मा एक अभेद है। इसलिये 'एक अभेद ज्ञायक आत्मा' को लक्ष में लेकर अनुभव करने से, 'मैं ज्ञान हूँ'—इत्यादि गुण-गुणी भेद के विकल्पों का भी निषेध हो जाता है और शुद्धात्मा का निर्विकल्प अनुभव होता है।

*[ श्री समयसार, गाथा ७ के प्रवचन से ]*

# 'जिन के समवशरण सब जयवंत वर्तें!'

आज से दस वर्ष पूर्व—वीर सं० २४६८ के ज्येष्ठ कृष्णा ६ को सोनगढ़ में श्री सीमंधर भगवान के समवशरण की रचना हुई थी। और इस समवशरण में श्री कुंदकुंदाचार्यदेव की भी प्रतिष्ठा हुई थी, इस ज्येष्ठ कृष्णा ६ के दिन—आज—उस धन्य प्रसंग को दस वर्ष पूर्ण हो रहे हैं। अहो! पूज्य स्वामीजी का अचिंत्य प्रताप कि जिन्होंने श्री सीमंधरनाथ के समवशरण को इस सुवर्णपुरी (सोनगढ़) में उतारा... और भक्तों को भगवान की भेंट कराई। इस काल में ऐसे समवशरण के दर्शन हो रहे हैं, वह भी मुमुक्षु जीवों का महा सद्भाग्य है।

प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय जब श्री कुंदकुंदाचार्यदेव की प्रतिष्ठा के लिये सीमंधर भगवान के समवशरण में उनका प्रवेश हो रहा था, उस समय का भावप्रेरक दृश्य देखकर अनेक भक्तों को ऐसा लगता था कि 'अहो! श्री सीमंधर भगवान के समवशरण में आकर कुंदकुंदाचार्यदेव उन्हें वंदन कर रहे हैं—ऐसा पवित्र प्रसंग मानों अपनी दृष्टि के समक्ष ही बन रहा है।'

'श्री समवशरण के दर्शन करते हुए, श्रीमद् भगवत् कुंदकुंदाचार्य सर्वज्ञ-वीतराग श्री सीमंधर भगवान के समवशरण में गये थे, वह प्रसंग मुमुक्षुओं के नेत्रों के समक्ष उपस्थित होता है और उससे सम्बन्धित अनेक पवित्र भाव हृदय में स्फुरित होने से मुमुक्षुओं के हृदय भक्ति एवं उल्लास से छलक उठते हैं। श्री समवशरण-मंदिर का निर्माण होने से, मुमुक्षुओं को अपने अंतर का एक प्रिय प्रसंग दृष्टिगोचर करने का निमित्त प्राप्त हुआ है।'

इस समवशरण के प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रसंग पर परम पूज्य श्री स्वामीजी ने 'समवशरण की स्तुति' पर भक्तिपूर्ण प्रवचन किये थे; उनमें जब—

'आचार्य के मन एक दिन जिन विरहताप हुआ महा;

—रे! रे! सीमंधरनाथ का विरहा पड़ा इस भरत में।'

—यह छंद आया, तब पूज्य स्वामीजी ने गद्‌गद् भाव से श्री सीमंधर भगवान और श्री कुंदकुंदाचार्यदेव के प्रति जो अतिशय भक्ति व्यक्त की, उसका वर्णन नहीं हो सकता। जब कभी समवशरण-स्तुति में उपरोक्त छंद आता है, तब पूज्य स्वामीजी नेत्र मूँदकर किसी विशिष्ट गंभीर विचार में निमग्न हो जाते हों—ऐसा मुमुक्षुओं को लगता है।

पूज्य स्वामीजी कईबार भक्ति आर्द्र अंतर से कहते हैं कि 'भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य का हम पर महान् उपकार है, हम उनके दासानुदास हैं... श्रीमद् भगवत्कुंदकुंदाचार्य महाविदेहक्षेत्र में सर्वज्ञ वीतराग श्री सीमंधर भगवान के समवशरण में गये थे और वहाँ वे आठ दिन रहे थे—इस सम्बन्ध में लेशमात्र शंका नहीं है... कल्पना मत करना, अस्वीकार मत करना, यह बात ऐसी ही है। मानो तो भी ऐसी ही है, न मानो तो भी ऐसी ही है। यथातथ्य बात है, अक्षरशः सत्य है, प्रमाणसिद्ध है।

अहो! जिन्होंने अपने पुनीत चरणों से भरतभूमि को पावन किया, उन श्री सीमंधर तात को नमस्कार हो... !... जिन संतों की अपरंपार भक्ति के बल से भगवान भरतक्षेत्र में पधारे, उन संतों को नमस्कार हो....

**''नमूँ मैं तीर्थनायक को, नमूँ ॐकार वाणी ( नाद ) को;**
**नमूँ उन कुंदप्रभु को जिन्होंने ॐकार धारण की।**
**अहो! उपकार जिनवर का, कुंद का, दिव्यवाणी का,**
**जिन-कुंद ध्वनिदाता अहो! उन कानस्वामी का।''**

# अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की

# कुछ शक्तियाँ

## [ ४ ]

## ज्ञानशक्ति

आत्मा के ज्ञानमात्र भाव में अनंत शक्तियाँ उछलती हैं, उनका यह वर्णन चल रहा है; उसमें से जीवत्वशक्ति, चितिशक्ति और दृशिशक्ति—इन तीन शक्तियों का वर्णन किया। अब चौथी ज्ञानशक्ति का वर्णन करते हैं।

आत्मा की ज्ञानशक्ति साकार उपयोगमयी है; ज्ञान, पदार्थों के विशेष आकारों को भी जानता है; इसलिये उसे साकार कहा जाता है। ज्ञानशक्ति का ऐसा महान विशेष स्वभाव है कि वह समस्त पदार्थों को विशेषरूप से भिन्न-भिन्न जानती है। 'यह जीव, यह अजीव, यह ज्ञान, यह दर्शन, यह सुख'—इसप्रकार ज्ञान सबको पृथक्-पृथक् जानता है। ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति में ऐसा सामर्थ्य नहीं है। आत्मा इन्द्रियों से या राग से जाने—ऐसी तो यहाँ बात ही नहीं है; परन्तु परोन्मुख होकर रागसहित जाने, वैसे ज्ञान की भी यह बात नहीं है; यहाँ तो, स्वोन्मुख होकर सबकुछ रागरहित जाने—ऐसी आत्मा की ज्ञानशक्ति है, उसकी बात है।

जगत में अनंत आत्मा हैं, प्रत्येक आत्मा में अनंत गुण हैं, प्रत्येक गुण की अनंत पर्यायें हैं और प्रत्येक पर्याय में अनंत अविभाग-प्रतिच्छेद हैं। आत्मा की एक समय की ज्ञानपर्याय में अनंत सिद्ध और केवली भगवंत ज्ञेयरूप से आ जायें—ऐसा एक-एक पर्याय का अनंत सामर्थ्य है।

पर्याय में जो प्रत्येक समय का ज्ञान है, वह त्रिकाली ज्ञानशक्ति में से परिणमित होता है। शक्ति का समुद्र भरा है, उसी में से पर्यायों का प्रवाह चलता है। सादि-अनंतकाल तक केवलज्ञान की पर्यायें प्रवाहित होती रहें, तथापि ज्ञानशक्ति में किंचित् हीनता न आये—ऐसा ज्ञानशक्ति का अचिंत्य सामर्थ्य है।

आत्मा का कोई ज्ञान पर के आश्रय से, आँख आदि निमित्तों के आश्रय से अथवा राग के आश्रय से परिणमित नहीं होता, किंतु इस त्रिकाली ज्ञानशक्ति के आश्रय से ही प्रति-समय का ज्ञान

परिणमित होता है। उस एक समय की ज्ञानपर्याय में समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों का ज्ञान हो जाता है। ज्ञान में सम्पूर्ण आत्मा ज्ञात हो, उसका ज्ञानगुण, दर्शन, सुख ज्ञात हो और केवलज्ञानादिपर्यायें भी ज्ञात हों—ऐसी प्रत्येक समय की ज्ञानपरिणति की शक्ति है। ऐसी ज्ञानपरिणति जिसमें से प्रगट होती है, वह ज्ञानशक्ति आत्मा में त्रिकाल है। ऐसी शक्तिवाले आत्मा की प्रतीति करे, उसे केवल ज्ञान की शंका नहीं रहती।

ज्ञान की प्रत्येक पर्याय में अनंत सामर्थ्य है। एकसमय के ज्ञान में तीनकाल के समस्त पदार्थों का ज्ञान समा जाता है। ज्ञान में दर्शन का ज्ञान, ज्ञान का ज्ञान, सुख का ज्ञान, द्रव्य का ज्ञान—इसप्रकार सबका ज्ञान है। राग को भी ज्ञान जानता है, परन्तु ज्ञान में राग नहीं है, और राग के कारण ज्ञान नहीं होता। ज्ञान करने का आत्मा का स्वभाव है किन्तु विकार करने का आत्मा का स्वभाव नहीं है। इसलिये ज्ञानी के हृदय में राग का वास नहीं है किन्तु शुद्ध आत्मा का ही वास है।

अहो! ज्ञानी के हृदय में तीर्थंकर बसते हैं, ज्ञानी के अंतर में सिद्ध भगवान बसते हैं। सिद्ध भगवान और तीर्थंकर भगवान का जैसा आत्मा है, वैसा ही मेरा आत्मा है—इसप्रकार जिसने परमात्मा जैसे अपने आत्मा की प्रतीति की है, उस धर्मात्मा के हृदय में अनंत सिद्ध भगवन्तों का और तीर्थंकरदेवों का वास है। जिसने अपने पूर्ण स्वभाव का विश्वास किया, उसने अपने आत्मा में सिद्धों की और तीर्थंकरों की स्थापना की और राग को या अपूर्णता को आत्मा में से निकाल दिया है—उसका निषेध किया है। ज्ञानी के आत्मा में तीर्थंकर का वास है, तीर्थंकरदेव उनके हृदय में बैठकर बोलते हैं; जो तीर्थंकरदेव कहते हैं, वही ज्ञानी का हृदय बोलता है; क्योंकि तीर्थंकर देव जैसे ही परिपूर्ण अपने आत्मा को उन्होंने प्रतीति में लेकर अनुभव किया है। अहो! मेरे ज्ञान का स्वभाव ऐसा है कि तीनकाल के समस्त तीर्थंकरों को एकसमय में जान लूँ; एक नहीं किन्तु अनंत तीर्थंकरों और सिद्धों को अपने ज्ञान की एक पर्याय में समा दूँ—ऐसी विशाल मेरे ज्ञान की महिमा है—ऐसी ज्ञानी को प्रतीति है।

तीनकाल के तीर्थंकरों को जाने, सिद्धों को जाने, संतों को-धर्मात्माओं को जाने, और परोन्मुख जीवों को भी जाने, अभव्य को भी जाने और अजीव को भी जाने, अनंतानंत आकाश को भी जाने—ऐसा ज्ञानशक्ति का स्वरूप है। जिसका स्वभाव ही जानने का है, वह किसे नहीं जानेगा? ज्ञान स्वयं अपने में ही एकाग्र रहकर सबको जान लेता है, जानने के लिये उसे कहीं बाह्य में विस्तृत नहीं होना पड़ता। ऐसे ज्ञान को कहाँ ढूँढ़ा जाये? शरीर की क्रिया में या शास्त्र के शब्दों में ढूँढ़ने जाये तो ऐसा ज्ञान नहीं मिलेगा; सम्मेदशिखर तीर्थ के मन्दिरों में जाकर ढूँढ़े तो वहाँ भी ऐसा

ज्ञान नहीं मिलेगा; यह ज्ञान तो आत्मा की निजशक्ति है; इसलिये आत्मा में अन्तरशोध करे तो ऐसा ज्ञान प्राप्त होगा। आत्मा में यह ज्ञानशक्ति तो त्रिकाल है, किन्तु उसका विश्वास करने से पर्याय में उसका विकास प्रगट होता है।

ज्ञान तो अभेद-भेद, सामान्य-विशेष सबको जानता है; इसलिये ज्ञान के विषय में अनंत विशेष प्रकार पड़ते हैं। दर्शन के विषय में वैसे विशेष नहीं होते। तीनों काल में जिस-जिस समय जो कुछ होना है, वैसा ही उसे जान लेने का ज्ञान का स्वभाव है, परन्तु उसमें कुछ इधर-उधर करने का या राग-द्वेष करने का ज्ञान का स्वभाव नहीं है। ऐसे ज्ञान की जो प्रतीति करे, उसका ज्ञान आत्मोन्मुख हुए बिना नहीं रहता। आत्मा अनादि-अनंत शक्तियों से अभेद है, उसी के आश्रय से धर्म होता है।

यहाँ तीसरी और चौथी शक्ति में दृशिशक्ति और ज्ञानशक्ति का वर्णन किया; और आगे नववीं और दसवीं शक्ति में सर्वदर्शित्व तथा सर्वज्ञत्वशक्ति का वर्णन करेंगे, उसमें इस दृशिशक्ति तथा ज्ञानशक्ति का विशेष माहात्म्य बतलायेंगे।

(यहाँ चौथी ज्ञानशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।)

✦✦✦

## ( वीर सं० २७५ कार्तिक शुक्ला ६ )

देखो, यह धर्म की बात है।

जिसे आत्मा का धर्म करना हो उसे क्या करना चाहिए?—अपने आत्मा को पहिचानना चाहिए।

आत्मा कैसा है?—उसमें क्या है?—आत्मा अपनी अनंत शक्तिवाला है; उसमें ज्ञान, दर्शन, सुख, जीवन, प्रभुता—इत्यादि अनंत शक्तियाँ हैं। आत्मा में अपनी अनंत स्वच्छ शक्तियाँ भरी हैं, परन्तु उसमें विकार, शरीर या स्त्री-पुत्र-लक्ष्मी आदि कुछ नहीं है। इसलिये जिसे आत्मा के धर्म की सच्ची भावना हो, उसे उस विकार, शरीरादि की भावना नहीं होती; जिसे विकार, शरीर-स्त्री-पुत्र-लक्ष्मी या स्वर्ग चाहिए हो, उसे आत्मा के धर्म की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उन किन्हीं वस्तुओं में आत्मा का धर्म नहीं है और आत्मा में वे कोई वस्तुएँ नहीं हैं। किसी परवस्तु से आत्मा का धर्म नहीं होता और न आत्मा के धर्म से वे कोई परवस्तुएँ मिलती हैं। आत्मा स्वयं अपनी अनंत शक्तियों से भरपूर है, अपने ही आधार से उसे धर्म होता है। इसलिये आत्मा के सन्मुख होकर उसमें ढूँढ़े तो धर्म की प्राप्ति होगी। जिसे धर्म करना है, उसे प्रथम अपने आत्मा को पहिचानना चाहिए।

चैतन्यमूर्ति आत्मा ज्ञानलक्षण से पहिचाना जाता है। जो ज्ञानलक्षण से पहिचाना जाता है, वह आत्मा अनंत धर्म का पिण्ड है। उसमें से आत्मा का धर्म प्रगट होता है। जहाँ जो माल भरा हो, वहाँ से वह माल मिलता है। इस शरीर की दुकान में तो जड़ का माल भरा है, उसकी क्रिया से आत्मा के धर्म का माल नहीं मिलेगा। और चैतन्यभगवान आत्मा की दुकान में अनंत गुणों का माल भरा है, वहाँ से ज्ञानादि धर्म का माल मिलेगा परन्तु वहाँ विकार नहीं मिल सकता।

जैसे, अफीमवाले की दुकान पर तो बढ़िया अफीम मिलती है, किन्तु मावा या हीरे-जवाहिरात नहीं मिलते; और हलवाई की दुकान पर मावा मिलता है, वहाँ अफीम नहीं मिल सकती। उसीप्रकार जिसे अफीम जैसे विकारी-शुभाशुभभाव चाहिए हों, उसे वे आत्मा के स्वरूप में नहीं मिल सकते। विकारी भाव और जड़ की क्रिया तो अफीम की दुकान जैसे है, उनमें से चैतन्य का निर्मल धर्म नहीं मिल सकता। चैतन्यमूर्ति आत्मा अनंत शक्ति का भंडार है, वह जौहरी और हलवाई की दुकान जैसा है। आत्मा के स्वरूप में विकार को बना रखने की शक्ति नहीं है, और पैसादि को बना रखने की भी शक्ति नहीं है। आत्मा की जीवत्वशक्ति में ऐसी शक्ति है कि आत्मा के चैतन्यजीवन को त्रिकाल बनाए रखे, किन्तु उसमें ऐसी शक्ति नहीं है कि वह पैसा, शरीर या विकार को आत्मा में बना रखे। इसलिये जिसे आत्मा का चैतन्यजीवन चाहिए हो, उसे आत्मा की भावना करना चाहिए और विकार की-व्यवहार की भावना छोड़ना चाहिए। जिसके राग की-व्यवहार की भावना है, उसे अनंतशक्ति के पिण्ड चैतन्य की भावना नहीं है। आत्मा तो अपनी ज्ञानादि अनंतशक्ति का पिण्ड है, उसमें दूसरे आत्मा नहीं है, अन्य कोई गुण या पर्यायें भी उसमें नहीं है; अपने स्वभाव के अतिरिक्त किन्हीं भी अन्य संयोगों को आत्मा अपने में मिलाए—ऐसी उसकी शक्ति नहीं है, और पर्याय के क्षणिक पुण्य-पाप को भी दूसरे समय तक बना रखने की उसकी शक्ति नहीं है। पहले समय जो विकार हुआ, वह तो दूसरे समय दूर हो ही जाता है, उसे कोई भी आत्मा रख नहीं सकता; किन्तु स्वयं अपनी निर्विकारी अनंती शक्ति को एकसाथ त्रिकाल बना रखे—ऐसा आत्मा का सामर्थ्य है। ज्ञान-दर्शन से एकसमय में सबको जाने-देखे—ऐसी आत्मा की शक्ति है, परन्तु कहीं भी इधर-उधर करने की या पर को अपना करने की आत्मा की शक्ति नहीं है। ऐसे भगवान आत्मा की दुकान पर चैतन्यशक्ति मिलती है किन्तु विकार नहीं मिलता; अर्थात् आत्मस्वभाव के सन्मुख होने से चैतन्य के परिणमन में अनंत शक्तियाँ निर्मलरूप से परिणमित होती हैं, किन्तु विकार परिणमित नहीं होता।

(-चतुर्थ ज्ञानशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।)

# विकल्प के अभावरूप परिणमन कब होता है ?

अनेक जीव विकल्प का अभाव करना चाहते हैं और स्थूल विकल्पों की न्यूनता होने से ऐसा मानते हैं कि विकल्प का अभाव हुआ। परन्तु वास्तव में विकल्प का अभाव करने पर जिसका लक्ष है, उसके विकल्प का अभाव नहीं होता; किन्तु जिसमें विकल्प का अभाव ही है—ऐसे शुद्ध चैतन्य को लक्ष में लेकर एकाग्र होने से विकल्प का अभाव हो जाता है। 'मैं इस विकल्प का निषेध करूँ'—इसप्रकार विकल्प का निषेध करने की ओर जिसका लक्ष है, उसका लक्ष शुद्ध आत्मा की ओर नहीं गया है, इसलिये उसके तो विकल्प की ही उत्पत्ति होती है। शुद्ध आत्मद्रव्य की ओर उन्मुख होना ही विकल्प के अभाव की रीति है। अन्तर्मुख उपयोग होने पर विकल्प के ओर की उन्मुखता छूट जाती है।

'विकल्प का निषेध करूँ'—ऐसे लक्ष से विकल्प का निषेध नहीं होता किन्तु उसकी उत्पत्ति होती है; क्योंकि 'यह विकल्प है और इसका निषेध करूँ'—ऐसा लक्ष किया, वहाँ तो विकल्प के अस्तित्व पर भार गया, किन्तु विकल्प के अभावरूप स्वभाव है, वह दृष्टि में नहीं आया; इसलिये वहाँ मात्र विकल्प का ही उत्थान होता है। 'यह विकल्प है, और इसका निषेध करूँ'—इसप्रकार विकल्प के अस्तित्व की ओर देखने से उसका निषेध नहीं होता; परन्तु 'मैं ज्ञायकस्वभाव हूँ'—इसप्रकार स्वभाव के अस्तित्व की ओर देखने से विकल्प के अभावरूप परिणमन हो जाता है। प्रथम आत्मस्वभाव का श्रवण-मनन करके उसे लक्ष में लिया हो और उसकी महिमा जानी हो तो उसमें अन्तर्मुख होकर विकल्प का अभाव करे। परन्तु आत्मस्वभाव की महिमा लक्ष में लिये बिना किसके अस्तित्व में खड़ा रहकर विकल्प का अभाव करेगा? विकल्प का अभाव करना, वह भी उपचार का कथन है। वास्तव में विकल्प का अभाव करना नहीं पड़ता; परन्तु जो परिणति अन्तरस्वभावोन्मुख हुई, वह परिणति स्वयं विकल्प के अभावस्वरूप है; उसमें विकल्प है ही नहीं, तो फिर अभाव किसका करना? विकल्प की उत्पत्ति नहीं हुई, उस अपेक्षा से विकल्प का अभाव किया—ऐसा कहा जाता है; परन्तु उस समय विकल्प था और उसका अभाव किया-ऐसा नहीं है।

एक ओर त्रिकाली ध्रुव ज्ञानस्वभाव का अस्तित्व है और दूसरी ओर क्षणिक विकल्प का अस्तित्व है; वहाँ ध्रुव ज्ञायकस्वभाव में विकल्प का अभाव है। उस ज्ञायकस्वभाव को लक्ष में

लेकर एकाग्र होने से विकार के अभावरूप परिणमन हो जाता है। वहाँ 'मैं ज्ञायक हूँ और विकार नहीं हूँ'—इसप्रकार दो पक्षों पर लक्ष नहीं होता, किन्तु 'मैं ज्ञायक हूँ'—इसप्रकार अस्तित्वस्वभाव को लक्ष में लेकर उसका अवलम्बन करने से विकार का अवलम्बन छूट जाता है। स्वभाव की अस्तिरूप परिणमन होने से विकार की नास्तिरूप परिणमन भी हो जाता है; स्वभाव में परिणमित हुआ ज्ञान स्वयं विकार के अभावरूप परिणमित हुआ है। उसे स्वभाव की अस्ति की अपेक्षा से 'सम्यक् एकान्त' कहा जाता है; और स्वभाव की अस्ति में विकार की नास्ति है—इस अपेक्षा से उसी को 'सम्यक् अनेकान्त' कहा जाता है। स्वभाव की अस्ति को लक्ष में लिये बिना (-सम्यक् एकान्त बिना) अकेली विकार की नास्ति को लक्ष में लेने जाये तो वहाँ 'मिथ्या एकान्त' हो जाता है अर्थात् उसके पर्यायबुद्धि से विकार के निषेधरूप विकल्प में एकत्वबुद्धि हो जाती है, परन्तु विकल्प के अभावरूप परिणमन नहीं होता। इससे एक आत्मस्वभाव का ही भलीभाँति अवलम्बन करना—वह विकल्प के अभावरूप परिणमन की रीति है। *( चर्चा पर से )*

## आत्मज्ञान को इन्द्रियों या राग का अवलम्बन नहीं है

आत्मा ज्ञातास्वभावी तत्त्व है; उसका स्वभाव ही जानने का है; उसका ज्ञान किसी पर के आश्रय से नहीं होता; इन्द्रियों या राग के अवलम्बन से भी वह नहीं जानता; परन्तु अपने ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से ही वह जानता है। वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। वह स्वसन्मुखी ज्ञान 'राग के अवलम्बन से मैं जानता हूँ'—ऐसा भी नहीं जानता, तब फिर इन्द्रियादि पर से ज्ञान होता है—ऐसा तो वह मानेगा ही कैसे ? जो ज्ञान, राग से भी अपना पृथक्त्व जानता है, वह ज्ञान, पर से तो अपनी पृथक्ता जानेगा ही; इसलिये मैं आँख आदि इन्द्रियों से जानता हूँ—ऐसा वह नहीं मानेगा। इन्द्रियों से मुझे ज्ञान होता है—ऐसा जो मानता है, उसने तो पर से-अजीव से भी ज्ञान को पृथक् नहीं जाना। तब फिर राग से भी ज्ञान की पृथक्ता जानकर उसका ज्ञान अंतरस्वभावोन्मुख कैसे हो ? अंतरस्वभावोन्मुख स्वसन्मुखी ज्ञान तो इन्द्रियों और राग के अवलम्बन से रहित है; इन्द्रियों और राग से पृथक् होकर अंतरोन्मुख हुए बिना ज्ञान, आत्मा को नहीं जान सकता और आत्मा के ज्ञान बिना कभी धर्म या मुक्ति—सुख या शांति नहीं हो सकते।

*[ श्री समयसार गाथा ६ के प्रवचनों से ]*

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक
प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों की—

## अवश्य स्वाध्याय करें

| | | | |
|---|---|---|---|
| समयसार प्रवचन भाग १ | ६) | भजनमाला | |
| समयसार प्रवचन भाग २ | ५) | (अजमेर भजन-मण्डली की) | =॥) |
| समयसार प्रवचन भाग ३ | ४॥) | मूल में भूल | ।।।) |
| प्रवचनसार हिंदी | | मुक्ति का मार्ग | ।।=) |
| (मूल संस्कृत टीका सहित) | ५) | अनुभवप्रकाश | ।।) |
| आत्मावलोकन | १) | अष्टपाहुड़ | ३) |
| मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें | १।=) | चिद्विलास | १=) |
| द्वादशानुप्रेक्षा | २) | दसलक्षणधर्म | ।।।) |
| अध्यात्मपाठसंग्रह | ५॥) | जैन बालपोथी | ।) |
| समयसार पद्यानुवाद | ।) | सम्यक्दर्शन | २) |
| निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ? | =॥) | स्तोत्रत्रयी | ।=) |
| 'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक मूल्य | ३) | भेदविज्ञानसार | २) |
| आत्मधर्म फाइलें १-२-३-५-६-७ वर्ष | प्रत्येक का ३॥।) | पंचमेरु पूजन | ।।।) |

(डाकव्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—
**श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट**
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)



: मुद्रक-प्रकाशक :
श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये
जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आंकड़िया